

जाति का प्रश्न और हिंदी दलित आत्मकथाएँ

बीज शब्द :

दलित विमर्श, उत्तर आधुनिकता, जाति एवं समाज, हिन्दी साहित्य

दलित आत्मकथाएँ सामाजिक विकास की कहानी को अपनी आत्मकथाओं में प्रस्तुत किया हैं। हिन्दू धर्म के जातिवाद, छुआछुत, आडम्बर, ब्राह्मणवादी सोच ने दलित समाज पर बहुत अत्याचार किया है। ये दलित आत्मकथाएँ सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में दलितों की पीड़ा के नग्न यथार्थ को प्रस्तुत करती हैं। इस क्रम में जूठना दोहरा अभिशाप, शिकंजे का दर्द, तिरस्कार आदि आत्मकथाओं में शिक्षकों की भेदभावपूर्ण, मानसिकता, प्रेम के अर्न्तउपजातिय विवाह की समस्या, हिन्दू धर्म की अस्पृश्यता, हिंसा, घृणा का नग्न यथार्थ, बहिष्कृत समाज के लोगों की संघर्ष गाथा का स्वरूप सामने आया है। आलेख में जाति की उत्पत्ति पर विचार किया गया है एवं वर्चस्व के सांस्कृतीकरण के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए निष्कर्ष निकाला गया है कि सामाजिक विकास की धाराओं ने सामाजिक संरचना ने।

अतः जातिगत विभेदों को समाप्त करने की आवश्यकता है। यह तब होगा जब सत्ताएँ वोट बैंक की राजनीति से उपर उठकर लोगों के हितों के बारे में सोचेंगे।

प्रोफेसर रामचंद्र

भारतीय भाषा केन्द्र

जे.एन.यू., नई दिल्ली-110067

जाति का प्रश्न और हिंदी दलित आत्मकथाएँ

भारत के पिछड़ेपन और अवरूद्ध विकास की वजह क्या है? विश्व के विकसित देशों की तुलना में भारत की अवस्थिति क्या है? भारत एक संसाधन सम्पन्न देश है, फिर भी इसके विकास की गति इतनी धीमी क्यों है? लम्बे अर्से से हम भारत को विकासशील देश के रूप में पढ़ते-जानते आ रहे हैं, इस प्रत्याक्ष में कि आने वाले वर्षों में यह भी विकसित देशों की श्रेणी में शामिल हो जाएगा परन्तु यह सपना मृगतृष्ण में सरीखा है। आजादी के 71वें वर्ष में हम आज कहाँ खड़े हैं? जाति-पाँति, छुआछूत, जातिगत अपमान-अवमानना-घृणा-हिंसा, बलात्कार-यौन-पितृसत्तात्मक हिंसा, साम्प्रदायिक-जातिगत दंगे, धार्मिक उन्माद, सामंती एवं जाति आधारित सेनाओं के तांडव, कटरता, माँब लिंग, खाप पंचायतों के बर्बर निर्णय, लव जिहाद आदि जैसे अमानवीय कृत्य के माहौल में हम जी रहे हैं। बेहद असंवेदनशील परिवेश में आम जनता को विकास का सपना दिखाकर शासन करने वाले राजनीतिक दल हैं, जो गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार से मुक्ति का मैनिफेस्टो लेकर आते तो हैं परन्तु सब कुछ ढकोसला साबित होता है और आम जनता को उनके सपने मृगमरीचिका सदृश लगते हैं। आजादी के इतने वर्षों बाद आज भी आम जनता ठगी चली आ रही है। परिवर्तन और मुक्ति की आकांक्षा का सपना लिये न जाने अभी कितनी पीढ़ियाँ गुजरने वाली हैं। बहुलतावादी संस्कृति की जटिलताएँ और घनीभूत होकर संकीर्णता का दायरा बढ़ाती जा रही हैं। इस तथ्य को स्वीकार करने में कोई हर्ष नहीं होना चाहिए कि भारत में जाति की समस्या और उसकी मनोवैज्ञानिक जटिलताएँ मनुष्य, समाज एवं देश के विकास में बाधक हैं। जाति आधारित सामाजिक व्यवस्था को बदलने का खाका तैयार करके उसको पूर्णतः समाप्त करने के लक्ष्य का संधान किये बगैर जो भी विकास होगा वह एकांगी, अधूरा और क्षणिक होगा। 'ब्राह्मण धर्म' से 'हिंदू धर्म' की सामाजिक-सांस्कृतिक यात्र के नेपथ्य में असमानता-विषमता आधारित जो अवैज्ञानिक-अव्यवहारिक ढांचा तैयार किया गया है तथा जिसको शास्त्र अनुमोदित करके संरक्षित रखा जाता रहा है, उससे वैचारिक होड़ लिये बगैर कोई भी परिवर्तन और विकास सम्भव ही नहीं है। साहित्य भी इससे होड़ लेने का एक सशक्त माध्यम है, जिसकी प्रतिबिम्बन हैं दलित आत्मकथाएँ। दलित आत्मकथाकारों ने अपने भुक्तभोगी जीवन के कड़वे अनुभवों को साझा करके वर्ण जाति आधारित समाज की आंतरिक तस्वीर से रू-बरू कराया है। दलित स्वानुभूतियाँ आईना हैं जिससे साक्षात्कार करके

सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन को संभाव्य बनाया जा सकता है। भारत की सामाजिक संरचना और उसकी जटिलताओं से टकराए बिना समतापरक समाज और अखंड राष्ट्र का निर्माण असंभव है।

किसी भी समाज की संरचना से ही उस समाज की विकासधारा निकलती है। विकास के सभी तंत्र भी उससे ही निर्धारित होते हैं। इस आलोक में भारत की विकासधारा और उसकी सामाजिक संरचना बहुत ही जटिल है, जहाँ सभी विकास तंत्र विज्ञान और वैज्ञानिकता की जगह असमानतापरक सामाजिक मान्यताओं, परंपराओं एवं वर्चस्ववादी सिद्धांतों से निर्मित और निर्धारित होते हैं जिसमें वैज्ञानिकता का घोर अभाव है। हालाँकि यह अभाव दुनिया के सभी देशों में देखा जा सकता है लेकिन भारत के अतिरिक्त अन्यो ने एकके बाद एक करके अपने विकास तंत्र को वैज्ञानिकता से सम्बद्ध किया है, परन्तु भारत आज भी इससे काफी दूर है। भारत के विकास की धीमी गति की वजह मुख्य रूप से विषमतापरक यहाँ की सामाजिक संरचना है जो वर्ण और जाति आधारित है। जिसे कुछ खास इतिहासकार और वर्चस्ववादी ऐतिहासिक दृष्टि से संपृक्त समूह अब वैज्ञानिक भी बताने लगे हैं जिसपर पुनर्विचार करने की सख्त जरूरत है। हकीकत यह है कि भारतीय समाज की यह संरचना पूरी तरह से अवैज्ञानिक है और इससे सिर्फ और सिर्फ इस समाज के एक समूह, जिसे इस जातिवादी संरचना ने सबसे श्रेष्ठ बनाया है। उसी समाज और वर्ग समूह को ही फायदा होता रहा है। अन्य समाजों के लिए यह व्यवस्था शोषण, दमन, अन्याय एवं गुलामी का पर्याय रही है। इससे मुक्ति यानी असमानतापरक इस अवैज्ञानिक सामाजिक संरचना के अंत के साथ ही भारत सचमुच में एक विकसित 'राष्ट्र' की ओर बढ़ सकता है।

सामाजिक संरचना और राष्ट्र के स्वरूप को समझने में साहित्य की भूमिका भी अहम होती है। इस भूमिका में आत्मकथाओं का योगदान सबसे गंभीर और गूढ़ होता है। साहित्य की अन्य विधाओं में यह पात्र के विचारों एवं उसके संबंधों के माध्यम से होती है वहीं आत्मकथाओं में यह अभिव्यक्ति संघर्षों की अनुभूति से उत्पन्न ज्ञान होता है। एक लेखक, रचनात्मक जीवन संघर्ष के माध्यम से समाज एवं राष्ट्र के बीच अपने आपको जिस रूप में पाता है, उसी को वह व्यक्त करता है। इन जटिल संबंधों की पड़ताल करने में दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त संघर्ष और सामाजिक-सांस्कृतिक संबंधों का तानाबाना न केवल एक दस्तावेज़ की तरह होता है बल्कि उसमें समाज और राष्ट्र

के विकास की एक दृष्टि भी होती है। यह दृष्टि जीवन मूल्यों के लिए किए गए श्रम और संघर्षों से निर्मित होती है, क्योंकि दलित समाज एक श्रमशील समाज रहा है और इतिहास के पन्नों में हमेशा से जीवन मूल्यों के लिए अनवरत संघर्ष करता रहा है। अपनी छोटी-छोटी इच्छाओं, आकांक्षाओं और स्वप्नों की पूर्ति के लिए उन्हें जिस प्रकार से समाज एवं राष्ट्र के विभिन्न तंत्रों तथा व्यवस्थाओं से संघर्ष करना पड़ता है और इस संघर्ष एवं टकराहट के बरक्स व्यवस्था और तंत्रों की मशीनरियों के द्वारा जिस प्रकार से श्रमशील बहुजन समाज कादमन और उत्पीड़न होता है, उससे भुक्तभोगी समाज की रीढ़ ही टूट जाती है। तत्पश्चात इन संघर्षों के बीच जब वह उठकर खड़ा होता है तब उनमें एक नई चेतना का संचार होता है। यहीं से प्रतिरोध की संस्कृति और वैज्ञानिक चेतना का भी जन्म होता है। अम्बेडकरवादी चिंतन एवं दर्शन इसी प्रतिरोध की संस्कृति और वैज्ञानिक चेतना से उपजा हुआ चिंतन-दर्शन है। अम्बेडकरवादी चिंतन और दर्शन से उपजा तथा प्रेरित दलित साहित्य जो अब बहुजन साहित्य बनने की ओर अग्रसर है, वह न केवल दलित चेतना का साहित्य है बल्कि उसका सौन्दर्यबोध भी पूर्व स्थापित साहित्य के सौन्दर्यबोध से भिन्न है। केवल इस भिन्न सौन्दर्यबोध को ही नहीं बल्कि प्रतिरोध की संस्कृति और उसकी वैज्ञानिक चेतना को स्थापित करने में दलित आत्मकथाएं एक मजबूत आधार स्तंभ की तरह रही हैं।

दलित आत्मकथाएं न केवल एक व्यक्ति की बल्कि पूरे दलित समाज की चिंता, चिंतन और संघर्षों के अन्वेषण की दस्तावेज हैं, जो समाज अस्तित्व में तो था लेकिन, वर्ण-जाति आधारित ब्राह्मणवादी व्यवस्था और उसके द्वारा निर्मित संस्कृति के इतिहास में खो गया था। या फिर वर्चस्ववादी षड्यंत्रों द्वारा उसे खत्म कर दिया गया था। पीड़ाजनित अन्वेषण की यह प्रक्रिया सिर्फ व्यक्तिगत नहीं है बल्कि वह आत्मकथाकार का समाज और 'राष्ट्र' की व्यवस्थाओं के बीच जीवन संघर्षों के साथ-साथ उसके सामाजिक संबंधों का भी प्रकलन है। दलित आत्मकथाएं इन्हीं संघर्षों और संबंधों की गाथा है। दलित आत्मकथाएं समाज और राष्ट्र की विकास गाथा को ऊपर से नहीं नीचे से देखने की समाजशास्त्रीय दृष्टि पैदा करती हैं और वैज्ञानिक दृष्टि से एक समृद्ध तथा विकसित राष्ट्र की ओर बढ़ने के लिए वैकल्पिक दृष्टि का निर्माण करती हैं। यह वैकल्पिक दृष्टि फुले-अम्बेडकरवादी सामाजिक चिंतन एवं दर्शन पर आधारित है।

दलित आत्मकथाओं में गुणात्मक रूप में चेतना जाग्रत करने की शक्तियां हैं। 'शून्य' का महत्व स्वयं में नहीं पता

चलता है लेकिन वह जिसके साथ भी जुड़ जाता है उसका मूल्य परिवर्तित कर देता है। दलित आत्मकथाएं भी ऐसी ही हैं। वह आत्मकथाकार के व्यक्तित्व को कितना महत्वपूर्ण बनाती हैं, यह कहना तो मुश्किल है परंतु प्रामाणिक तौर पर यह कहा जा सकता है कि आत्मकथाएं पाठक को झकझोर कर उसे 'यू कैन डू' की शक्ति से न केवल रू-बरू कराती हैं बल्कि उसे जड़ता से मुक्त कर शिखर की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित भी करती हैं।

अब तक हिंदी और गैर हिंदी भाषाओं में जितनी भी आत्मकथाएं लिखी जा चुकी हैं। वे सभी आत्मकथाएं दलित समाज को एक नई दिशा प्रदान करती हैं। असमानपरक ब्राह्मणवादी व्यवस्था व जातिवादी मानसिकता के कारण मानव जीवन और मानवीय मूल्यों से दलित समाज की सामाजिक स्थिति कितना विषम और विपरीत है (उसकी कथा प्रस्तुत करती हैं दलित आत्मकथाएं। इन आत्मकथाओं को पढ़ने से न केवल भारतीय समाज का यथार्थ सामने आता है बल्कि दलित समाज की मानवीय मूल्यों की वंचना की तस्वीर स्वतः चलचित्र की भाँति आंखों के सामने प्रकट हो जाती है। इसके बावजूद कोई 'इंडिया शाइनिंग' का नारा दे और कहे कि हम प्रबुद्ध समाज की ओर बढ़ रहे हैं तो इससे बड़ा झूठ और क्या हो सकता है? इस देश की लगभग एक चौथाई आबादी गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रही है। आधा आबादी असुरक्षा और भय के साए में जीवन जी रही है। किसान आत्महत्या कर रहे हैं। बहुजन समाज दिन-प्रतिदिन लोकतांत्रिक मूल्यों से वंचना का शिकार हो रहा है। जिस देश में श्रमशील समाज का बहुसंख्यक हिस्सा दहशत का जीवन जी रहा हो और जिन्हें जाति-धर्म की राजनीति से आर्तकित और दहशत के माहौल में जिंदगी जीने के लिए मजबूर किया जा रहा हो, उस देश में दलित आत्मकथाएं जीने की शक्ति देती हैं। ये स्वानुभूतियां जीवन मूल्यों से वंचित समुदाय को आगे बढ़ने की कला सिखाती हैं, क्योंकि इन आत्मकथाओं में जिस समाज की तस्वीर-ए-बयां है वे इसी देश की बहुजन आबादी हैं, जिन्हें ब्राह्मणवादी मानसिकता ने छलबल से पराजित कर उसे गुलामी की दासता में जीवन जीने के लिए मजबूर किया है। उसी गुलामी की दासता से मुक्त होने की कथा दलित आत्मकथाएं कहती हैं। दलित आत्मकथाओं में व्यक्त दलित समाज की स्थिति सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में शून्य की रही है। सभी प्रकार की शून्यता के यथार्थ की तस्वीरें खींचती तथा दर्शाती हैं दलित आत्मकथाएं। उस सामाजिक शून्यता के बीच से निकलकर दलित आत्मकथाकार समाज को नई दिशा और नई ऊंचाई की ओर ले

जाते हैं। वे अपने-अपने क्षेत्र में मिशाल बनकर उभरते हैं और राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वयं अपनी पहचान बनाते हैं। यही चेतना दलित समाज की नई पीढ़ी को प्रेरित कर उसे आगे बढ़ने की शक्ति देती है। बुद्ध, फुले और डॉ. अम्बेडकर के दर्शन, चिंतन और वैचारिकी से ऊर्जान्वित दलित आत्मकथाएं व्यक्तित्व और समाज-राष्ट्र के विकास के लिए न केवल चेतना उत्पन्न करती हैं बल्कि उसे सुव्यवस्थित दिशा प्रदान कर समाज-राष्ट्र के विकास के लिए प्रतिबद्ध भी करती हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों में दलित आत्मकथाओं ने अपनी नई उपस्थिति के साथ नए प्रतिमान को स्थापित किया है। यह नए प्रतिमान न केवल साहित्य के पुराने सौन्दर्यशास्त्र को नकारते हैं बल्कि नवीनता के साथ साहित्य के नए सौन्दर्यशास्त्र को निर्मित भी करते हैं।

‘जूठन’ पूरी शिक्षा पद्धति और शिक्षकों की धिनौनी मानसिकता को उजागर करती है। गुरु-शिष्य की जो पवित्र छवि हमें दी गई है या जिस छवि का निर्माण किया गया है, वह बाहर से देखने पर बहुत सुहावनी, निर्दोष और स्पृहणीय लग सकती है, लेकिन गुरु-शिष्य के इस पवित्र रिश्ते को वही जानता है, जो ऐसे गुरुओं के पास से गुजरा हो। इतिहास इसका कोई आंकड़ा नहीं दे सकता कि अब तक कितने एकलव्यों का अंगूठा काटा गया होगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि ‘जूठन’ में लिखते हैं, अध्यापकों का आदर्श रूप जो मैंने देखा था वह अभी तक मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब भी कोई आदर्श गुरु की बात करता है तो मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं जो मां-बहन की गालियाँ देते थे। सुंदर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपन करते थे। ओमप्रकाश वाल्मीकि जिस स्कूल और कॉलेज में पढ़ने जाते हैं, उन्हें ‘अबे, चूहड़े का’, ‘कितना भी पढ़ लियो रहेगा तो चूहड़ा ही’ कहकर उनकी हैसियत बता दी जाती है। जब कभी भी वे शिक्षक से किसी समस्या पर बात करने जाते तो सबसे पहले उन्हें ‘भंगी’ होने का एहसास कराया जाता। धार्मिक कर्मकाण्डों और गढ़ी हुई ऐतिहासिकता पर ओमप्रकाश वाल्मीकि ने जब-जब अध्यापकों से प्रश्न करने की कोशिश की, तब-तब उन्हें मार खानी पड़ी। परीक्षा में अंक तो कम मिले ही, साथ ही सवर्ण सहपाठियों एवं अध्यापकों द्वारा बींधाने वाले शब्द भी मिले-देखो चूहड़े का, बार्मन बन रहा है।

शिक्षा तंत्र में व्याप्त वर्णव्यवस्था की ठोकड़ों से ओमप्रकाश वाल्मीकि बार-बार घायल होते हैं, उसकी पीड़ा से कराहते भी हैं, लेकिन टूटते नहीं। बल्कि चेतना का वेगमयी प्रवाह निरन्तर बढ़ता

जाता है, जो कि हर दलित और दलित चेतना के लिए स्पृहणीय है। हिंदू व्यवस्था की दी हुई चोटें इनके मन में तरह-तरह के सवाल पैदा करती हैं, मैं हिंदू भी तो नहीं हूँ। यदि हिंदू होता तो हिंदू मुझसे इतनी घृणा, इतना भेद-भाव क्यों करते? बात-बात पर जातीय-बोध की हीनता से मुझे क्यों भरते? जातीय श्रेष्ठता-भाव अभिमान बनकर कमजोर को ही क्यों मारता है? क्यों दलितों के प्रति हिंदू इतना निर्मम और क्रूर है।³

हमारी शिक्षा व्यवस्था ने हिंदू सामाजिक व्यवस्था के ऊपरी पायदान पर बैठे हुए लोगों के मन में जन्मजात श्रेष्ठ होने के भाव को दिलोदिमाग में बैठाने का ही काम क्या इसलिए किया है, ताकि दलित और अन्य उत्पीड़ित वर्ग स्वाभाविक रूप से अपने को हीनतर मानते हुए मुकाबले से बाहर हो जाएं तथा बराबरी करने की जुर्रत न कर सकें? इसीलिए डॉ. अम्बेडकर द्वारा शुरू की गई दलित अस्मिता और आत्म-सम्मान की लड़ाई प्रासंगिक है, जिसने आज दलितों के मन-मस्तिष्क में चेतना के बीज बो दिए हैं। वह अपने हकों के लिए आज संघर्षशील है। दलित आत्मकथाकार इस चेतना के प्रतिनिधि के रूप में दिखाई देते हैं। ‘जूठन’ में लिखते हैं कि बुद्ध के मानवीय स्वतंत्रता के विचार ने मुझे प्रभावित किया था। परिवर्तित समष्टि में कुछ भी अपरिवर्तनीय नहीं है। मानव ही सर्वोपरि है। करुणा और प्रज्ञा व्यक्ति को उच्चता की ओर ले जाती है।⁴

‘जूठन’ ने प्रेम की सारी परिभाषाओं एवं उसके अर्थों पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। दो युवा मनो में उपजे प्रेम के टूटते तार ने नस-नस में समाई ‘जाति-व्यवस्था’ को बड़ी तलखी से उजागर किया है। प्रेमी-प्रेमिका के बीच में ‘जाति’ आते ही वह सब कुछ बिखर जाता है, जिसे दो जवां दिल भविष्य के लिए संजोकर रखते हैं। इस ‘व्यवस्था’ में मानव की स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ दब कर दी जाती हैं और सारी स्वतंत्रताएं छीन ली जाती हैं। यह अकारण नहीं है कि इसके शिकार दलित और स्त्री ही होते हैं। इन अर्थों में दोनों पर्यायवाची से लगते हैं। ऐसा लगता है जैसे ऐसे समाज में स्त्रियों को घर की चहारदीवारी में बंद करके जातिगत मानसिकता से संस्कारित किया गया हो। महाराष्ट्र की कुलकर्णी ब्राह्मण परिवार की लड़की सविता को उसके मां-बाप ने क्या बचपन से यही सिखाया और बताया था कि एस. सी. अनकल्चर्ड (असभ्य) होते हैं, गंदे रहते हैं, एस. सी. से घृणा करो? कुलकर्णी खानदान की बेटी सविता ओमप्रकाश वाल्मीकि की ओर इसलिए आकृष्ट हुई थी कि वे एस. सी. हो ही नहीं सकते। इतने सभ्य और सुशील तो सिर्फ ब्राह्मण ही होते हैं। ब्राह्मणवादी संस्कृति ने सदियों तक

रिसने वाला सिर्फ दर्द ही तो दिया है जिसका भुक्तभोगी पूरा दलित समाज है। इस सभ्यता ने न जाने कितने ओमप्रकाशों और सविताओं को दूध किया है। इस पथराई, जड़ीभूत संवेदना को जगाने की ओर 'जूठन' संकेत करती है। दिलो-दिमाग पर छाई हुई भीरुता और आतंक को मिटाने के लिए एक सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन की आवश्यकता हेतु 'जूठन' प्रेरित करती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि और सविता कुलकर्णी का प्रेम संबंध जाति के कारण ही बलि चढ़ जाता है। "हम दोनों के बीच कई तरह के फासले थे, जो लगातार मुझे रोकते थे। 'कुलकर्णी परिवार की आत्मीयता मुझे आकर्षित भी कर रही थी, फिर भी पारिवारिक स्थितियों के कारण संकोच था।"⁵

'जूठन', 'दोहरा अभिशाप' और 'शिकंजे का दर्द' में प्रेम व अन्तर्पजातीय विवाह का चित्रण है। 'जूठन' में सौन्दर्य के सहज आकर्षण के साथ अन्तर्जातीय प्रेम की शुरुआत होती है लेकिन जाति के कारण वह प्रेम असफल रहता है। 'दोहरा अभिशाप' में सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन के तौर पर अंतर्पजातीय विवाह की प्रक्रिया शुरू होती है जो दलित आंदोलन की वैचारिकता को पुष्ट करती है। कौसल्या बैसंती लिखती हैं कि "मेरी शादी रजिस्ट्रार के माध्यम से हुई, क्योंकि मुझे गाजा-बाजा, बारात वगैरह पसंद नहीं था" यहां अंतर्जातीय विवाह का एक संवैधानिक स्वरूप प्राप्त होता है। यद्यपि दूसरी तरफ सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप का भिन्न पक्ष भी आत्मकथा में व्यक्त है। "मां यह शादी चोरी-छिपे नहीं करना चाह रही थी। उन दिनों अंतरजातीय और अंतरजातीय शादी करना और वह भी हमारे समाज में कोई आसान बात नहीं थी।"⁶ इस प्रकार जाति व्यवस्था को तोड़ने की प्रक्रिया का दलित आत्मकथाओं में एक सशक्त सामाजिक-सांस्कृतिक व वैचारिक सौन्दर्यबोध की अभिव्यक्ति भी है।

दलित आत्मकथाएं वह पन्ना खोलती हैं जहां किसी साहित्यकार, इतिहासकार और समाजशास्त्री की दृष्टि नहीं पहुंच सकी थी। इस अर्थ में 'मुर्दहिया' साहित्य, इतिहास और समाजशास्त्र के अधूरेपन एवं एकांगीपन को संबोधित कर खालीपन को संपूरित करती है। यही नहीं बल्कि हिन्दू व्यवस्था की जड़ता एवं विद्रूपता के तह तक जाती है। इस संदर्भ में दलित साहित्य भाषा, साहित्य एवं संस्कृति के विकास में अमूल्य योगदान भी कर रहा है। 'मुर्दहिया' जैसी रचनाएं विषमतापरक समाज को बदलने के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर रही हैं। संपूर्ण दलित साहित्य परंपरागत साहित्य के खालीपन को संपूरित करने और विषमता को पाटने का साहित्य है। वर्ण और जाति व्यवस्था का आनंद

एवं रसास्वादन लेने वाले हित समूह ने दलित साहित्य के प्रति नकारात्मक प्रचार किया है। वर्चस्वशाली तबके के कुछ आलोचकों और बौद्धिकों ने दलित साहित्य लेखन के प्रारंभिक दौर से ही नकार, विकृति एवं समाहार के भाव से दलित साहित्य आंदोलन का विश्लेषण किया है। यह यथास्थिति को मजबूत करने की नकारात्मक दृष्टि है जो समाज में व्याप्त जातिवादी जड़ता, हिंसक प्रवृत्ति और विषमतापरक हिन्दू-व्यवस्था को बदलना नहीं चाहती। दलित आत्मकथाएं बौद्धिकों को भारतीय समाज के सच का आइना दिखाती हैं कि देखो, 21वीं सदी के भारत की तस्वीर कैसी है? इसीलिए दलित आत्मकथाएं आमूल परिवर्तन की मांग करती हैं। दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त वेदना और शोषण के यथार्थ को काल्पनिक साबित करने के उद्देश्य से इन कृतियों को लगातार उपन्यास के रूप में प्रचारित-प्रसारित किया जा रहा है। मराठी से हिन्दी में अनुदित दलित आत्मकथाओं को प्रकाशकों ने उपन्यास या आत्मकथात्मक उपन्यास के रूप में ही छपा है। यह प्रामाणीकरण का अस्वीकार है। लम्बे अर्से से विभिन्न तरह के वैचारिक आवरण और वर्गीय एवं जातिगत हित समूहों में जिस साहित्य और समाज ने खुद को 'मुख्यधारा' बना लिया था, उस 'मोहक' आवरण को दलित आत्मकथाओं ने हटा दिया है। दलित आत्मकथाएं वैकल्पिक सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास का सृजन हैं, जिसका सशक्त प्रमाण है 'मुर्दहिया'। हिन्दी में 'अपने अपने पिंजरे' और 'जूठन' से शुरू हुआ आत्मकथा लेखन 'मुर्दहिया' तक पहुंचकर दलित साहित्य लेखन में आत्मकथा विधा को और सशक्त एवं प्रभावशाली बनाया है। 'मुर्दहिया' हिन्दू-व्यवस्था में व्याप्त हिंसा, घृणा तथा वर्चस्व की राजनीति को बेपर्दा करती है, साथ ही दलित समाज की जटिलताओं एवं विसंगतियों का समाजशास्त्र भी प्रस्तुत करती है।

'मुर्दहिया' दलित जीवन संघर्ष की सिर्फ वेदनामयी गाथा ही नहीं है, अपितु हिन्दू जाति-व्यवस्था की जड़ता, अंधविश्वास, कर्मकांड, धर्मन्धिता तथा तमाम विभेदकारी शोषणयुक्त विषम परिस्थितियों के घेरे को तोड़कर उगते सूरज के मानिंद बालक तुलसीराम की संघर्ष-यात्रा है। अपमान, अनादर, उपेक्षा और कड़की की वेदना से गुजरते दलित बालक की मनोदशाओं की सच्ची कहानी है 'मुर्दहिया'। लोकरंग की पच्चीकारी से सनी हुई वेदना और पीड़ा की यह भाषा हिन्दी की अमूल्य धारोहर है। लोकरंग और लोक भाषा में सनी हुई लोक जीवन की ऐसी चित्रकारी हिन्दी भाषा के लिए गर्व की बात है। दलित को अपमानित करने वाली कहावतों का भी जिक्र आत्मकथा के सरोकारों को और सार्थक रूप देता है।

डॉ. तुलसीराम लिखते हैं कि “‘लोग अकाल से उत्पन्न दुःख-दर्द को भूल गए थे। धान की अच्छी फसलों के बाद चैत बैसाख के दिनों में जौ, गेहूँ, चना, मटर आदि फसलों की कटाई से दलितों के बीच काफी खुशहाली छा गई थी। इसका कारण था कुछ महीनों के लिए उचित भोजन-व्यवस्था, इस संदर्भ में हमारे पूरे क्षेत्र में दूर-दूर तक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जमींदारों के बीच चमारों को लेकर एक काव्यात्मक मुहावरा प्रचलित था- ‘भादौ भैसा चैत चमार-इनसे कबहूँ लगे न पार’ इस निरादरपूर्ण अमानवीय अभिव्यक्ति में चमारों की पेट भर खाने की खिल्ली उड़ायी जाती थी।”⁷ यह वह सच्चाई है जिसे इतने प्रामाणिक ढंग से किसी भी परंपरागत भाषा साहित्य ने वर्णित नहीं किया है। ‘जाति’ कैसे, कबसे और क्यों गाली और अपमान का पर्याय बनी होगी? यह आत्मकथा इस तथ्यान्वेषण के लिए प्रेरित करती है। इस अर्थ में यह एक शोधापरक पुस्तक भी है जो जाति के मूल में मौजूद अपमान और अनादर के कारणों के तह तक ले जाती है।

घर में ‘कनवा’ और बाहर ‘चमरा’ की गाली बाल मनोविज्ञान तथा बाल शोषण का ऐसा पहलू है जिसे किसी भी भाषा साहित्य में ढूँढ़ना कठिन है। आखिर बचपन को रौंदने की वह कौन सी संस्कृति है जिसकी जिनाख्त कोई भी साहित्य और पद्धतिशास्त्र ठीक से नहीं पहचान पाते? इसकी ही खोज का नाम है ‘मुर्दहिया’।

दलित आत्मकथाओं की विशिष्टता इस अर्थ में है कि सभी आत्मकथाओं में प्राइमरी पाठशाला से लेकर विद्यालय और उच्च शिक्षण संस्थानों तक में मौजूद जाति-पाँति, छुआ-छूत और विभिन्न तरह के सामाजिक भेदभाव की विषम स्थितियों का मार्मिक चित्रण मिलता है। इस चित्रण से भारत के शिक्षा-तंत्र की नग्नता का भेद खुलता है। जिस शिक्षा व्यवस्था को असें से सरस्वती देवी का मंदिर कहकर महिमामंडित किया गया है, उन सारी शुचिता, मूल्य एवं नैतिकता और मान्यताओं को दलित आत्मकथाएं ध्वस्त करती हैं। वर्चस्वजाली प्रतिभा और योग्यता के सारे मानकों को ‘मुर्दहिया’ ध्वस्त करती है। ‘मुर्दहिया’ में शिक्षा तंत्र की जिस विद्रूपता का वर्णन मिलता है (वह प्रगति के सारे दावों को खोखला साबित करता है। अध्यापक मुंशी रामसूरत लाल विशेषकर, दलित बच्चों को बात-बात पर स्कूल में ‘चमरकिट’ कहकर अपमानित करते थे।

जिस समाज को सार्वजनिक स्थलों और स्कूलों में पानी पीने तक का अधिकार न हो, उस समाज के मनोविज्ञान को समझने के लिए कौन-सी प्रविधि विकसित की गई है? ‘मुर्दहिया’

में पानी पीने के अधिकार के अलावा तुलसीराम के स्कूली जीवन के बीच कुछ अन्य घटनाएं भी महत्वपूर्ण हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत दलितों को शिक्षा का अधिकार मिल जाने से दलित वर्ग के लोग अधिकारी बनने लगे थे, लेकिन अधिकारियों की भी पहचान जाति से ही की जाती थी, जैसे डिप्टी साहब को ‘चमार डिप्टी’ का संबोधन। परन्तु डिप्टी साहब का खौफ सभी शिक्षकों में था।

दलित आत्मकथाएं सभी प्रकार की असमानता और बहिष्कार का विरोध करती हैं और उपजाति के भेद का भी विरोध करती हैं। जाति-उपजाति का सवाल दलित आत्मकथा में केन्द्रीय प्रश्न बनकर आया है। जब ओमप्रकाश वाल्मीकि यह सवाल करते हैं कि ‘जाति ही मेरी पहचान क्यों?’⁸ वे अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि “‘मेरा दलित होना और किसी विषय पर अपने परिवेश, अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अनुसार दृष्टिकोण बनाना ऐरोगेंट हो जाना है, क्योंकि मैं उनकी नजर में सिर्फ एस.सी. हूँ, दरवाजे के बाहर खड़ा रहने वाला।”⁹ दरअसल यहां सवाल ऐरोगेंट का नहीं है समस्या दलित होने की चेतना से है। पीड़ाजनित यही चेतना दलित सौन्दर्यबोध को निर्मित करती है। दलित चेतना की वैचारिकी के अंतर्गत न तो कोई किसी से कमतर है और न ही कोई किसी से उच्च।

उक्त के संदर्भ में गैर दलित स्त्री की चेतना को रेखांकित करती हुई कौसल्या वसंती बताती हैं कि जातिगत भावना की शिकार स्त्री जाति सबसे ज्यादा है और जातिगत भावना की जड़ भी वही है। ‘दोहरा अभिशाप’ में इस बात को कौसल्या वसंती उजागर करती हैं कि “‘गैर दलित स्त्रियां जातिगत भावना से ज्यादा ग्रस्त रहती हैं।...उन्होंने मुझे मेरी जाति के बारे में पूछा ही नहीं। पूछतीं तो मैं अवश्य ही अपनी जाति के बारे में बताती। मैं अपनी जाति को हीन नहीं समझती, न उनको अपने से ऊंचा। वैसे मैं जाति-पाँति को नहीं मानती।...जाति के साथ-साथ जातिगत मानसिकता का विरोध होना चाहिए।...मैंने भी (चिटफंड) में जाना छोड़ दिया। कुछ पैसे देने थे, वे मैंने नौकरानी के हाथ भिजवा दिए और साथ में मैंने उन्हें एक पत्र लिखा कि ‘आपने मुझसे मेरी जाति नहीं पूछी। क्या मैं अपनी जाति का पोस्टर अपनी पीठ पर चिपकाकर रखूँ? आप सभ्य नहीं लगतीं। सभ्य आदमी जाति-पाँति का विचार अपने मन में नहीं रखते और जाति-पाँति मानने वाले लोगों से मैं अपना संपर्क नहीं रखती। मुझे पहले पता होता कि आप जाति-पाँति मानती हैं तो मैं स्वयं आपके चिटफंड में नहीं आती। आपकी जाति के लोगों ने हमारे बाप-दादा और

हमारी जाति के लोगों को सदियों से सताया-पीने को पानी नहीं, पढ़ाई नहीं, संपत्ति नहीं, काम करने की मनाही। गांव के बाहर चिथड़ों में रहने को मजबूर किया और भी अमानुष अत्याचार किए। फिर भी हमने यह सब सहकर अपने पांव पर खड़े रहकर उन्नति की और आपसे आगे बढ़कर दिखाया है। अब आपसे दबकर नहीं रहेंगे। फिर मैं आपसे क्यों डरूं।”¹⁰ यहां स्पष्ट रूप से यह बात देखी जा सकती है कि दलित चेतना स्व निर्मित है इसमें किसी का डर नहीं। डिक्लास होने का बोधा और संघर्ष के बल पर अपनी पहचान बनाए रखना इसकी विशिष्टता है। वहीं यह बात भी आत्मकथाओं में झलकती है कि जातिगत चेतना ने दलितों के लिए सांस्कृतिक अलगाव का बोधा भी पैदा किया है। जाति व्यवस्था ने ज्यादातर सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों को नियंत्रित किया है। इस संदर्भ में आनंद तेलतुमडे ने अपनी पुस्तक ‘साम्राज्यवाद का विरोध और जातियों का उन्मूलन’ में लिखा है कि जाति “सांस्कृतिक प्रतिमानों को भी नियंत्रित करती है। जाति ने अपनी शक्ति केवल उसे अनुकूल बनाने में ही नहीं बल्कि इसे एक अक्खड़पन रूप देकर नए निर्माण में निर्णायक भूमिका अदा की है। जातिगत चेतना ने अपने को नष्ट करने से नकार दिया है न तो शिक्षा न ही देश से बाहर चले जाने की स्थितियां इसे मिटा सकी हैं। जातियों में निहित विभाजक शक्ति वर्गों के पैदा होने का गला घोट रही हैं। इस तरह जातियां क्रांतिकारी परिवर्तन की संभावनाओं को बाधित करती हैं।”¹¹ इससे स्पष्ट होता है कि भारत में जाति नियंत्रक और नियंता दोनों की भूमिका में है और जाति की नींव पर कभी भी एक समृद्ध समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता है, समृद्ध राष्ट्र की परिकल्पना तो बहुत दूर की बात है। इस संदर्भ में आजादी से लगभग एक दशक पहले सन 1936 ई. में बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने दो टूक राय व्यक्त करते हुए आगाह किया था, “मेरी राय में इसमें कोई संदेह नहीं है कि जब तक आप अपनी सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलेंगे, तब तक कोई प्रगति नहीं होगी। आप समाज को रक्षा या अपराधा के लिए प्रेरित कर सकते हैं, लेकिन जाति-व्यवस्था की नींव पर आप कोई निर्माण नहीं कर सकते आप राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते, आप नैतिकता का निर्माण नहीं कर सकते। जाति व्यवस्था की नींव पर आप कोई भी निर्माण करेंगे, वह चटक जाएगा और कभी भी पूरा नहीं होगा।”¹²

भारतीय सामाजिक जड़ता का कारण यहां के धर्मशास्त्र जनित पाखंड है। जहां वैज्ञानिकता की पहुंच हो ही नहीं पाती है। धार्मिक कर्मकांड आम जनता को उसकी स्थिति से उबरने की

नहीं देते है। ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद के द्वारा दैनंदिनी में जारी धार्मिक कार्यक्रम उसकी चेतना के ऊपर पड़ी काली परत को हटाने ही नहीं देता है। पुरानी धार्मिक पुस्तकों का बाजारीकरण, दूरदर्शन और अन्य माध्यमों से उसका प्रचार-प्रसार जनता को एक नए प्रकार से धार्मिकता का पाठ पढ़ा रहा है। जनता मानसिक रूप से धार्मिक जड़ता का शिकार है जहां उसकी सांस्कृतिक चेतना, उसका पारिवारिक संस्कार आदि उसे मुक्त नहीं होने देता है। वे यह नहीं समझ पाते हैं कि धर्म क्या है? उसका औचित्य क्या है? उसकी सामाजिकता व व्यावहारिकता का स्वरूप कैसा है? दलित आत्मकथाएं इन तमाम कारकों और कारणों पर प्रकाश डालती हैं।

भारत एक बहुल सांस्कृतिक और बहुभाषिक देश है। किन्तु ‘हिंदू राष्ट्र’ की मानसिकता वाली विचारधारा सांस्कृतिक भिन्नता को स्वीकार नहीं करती है क्योंकि यह उसका राजनीतिक एजेन्डा है। सांस्कृतिक विविधता में एकता तब तक संभव नहीं है जब तक जातिगत भिन्नता है। जातिगत विभिन्नता एकल सांस्कृतिक जीवन को कभी भी परिभाषित नहीं करती है। इस अर्थ में ‘हिन्दू’ शब्द एकता का द्योतक नहीं है। यदि एकता का प्रतीक होता तो सबकी संस्कृति समान होती लेकिन ऐसा नहीं है। इसलिए हिन्दू एक खास वर्ग का प्रतीक है जिसकी संस्कृति और संस्कार हिन्दू धर्मशास्त्र से संचालित है। दलित आत्मकथाएं इस सांस्कृतिक भिन्नता को रेखांकित करती हैं ताकि सांस्कृतिक एकता का सूत्र स्थापित किया जा सके। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं कि “कहने को तो बस्ती के सभी लोग हिन्दू थे, लेकिन किसी हिन्दू देवी-देवता की पूजा नहीं करते थे। जन्माष्टमी पर कृष्ण की नहीं जहारपीर की पूजा होती थी या फिर ‘पात्र’ पूजे जाते थे। वे भी अष्टमी को नहीं, ‘नवमी’ के ब्रह्ममुहूर्त में।”¹³ वे आगे बताते हैं कि हिन्दू संस्कृति हिंसात्मक है। इसका कारण इस सूत्र वाक्य में देखा जा सकता है कि “क्यों दलितों के प्रति हिंदू इतना निर्मम और क्रूर है? “मैं हिन्दू भी तो नहीं हूं।”¹⁴ जब वे लिखते हैं कि मैं हिन्दू भी तो नहीं हूं तो बात स्पष्ट हो जाती है कि दलित की भारतीय समाज में अलग पहचान है। इसलिए उसकी संस्कृति हिन्दू संस्कृति से भिन्न है। बाजार के परिदृश्य में कई संस्कृति का बयान है वहीं सामाजिक संरचना में व्याप्त दलित, गैर-दलित संस्कृति, मजदूर और मालिक की संस्कृति है। मजदूर का अनुपात किस रूप में है। डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ इसका बयान करती है, “ये भूमिहीन अपने-अपने गांव आकर इस इलाके में कृषि मजदूर के रूप में काम किया करते थे। सौ में से नब्बे चमार-भंगी होते थे और दस प्रतिशत गरीब

मुसलमान थे। कोई बनिया, ब्राह्मण, अहीर, गूजर, जाट, लोधा मैंने इन मजदूरों के रूप में न देखा था न सुना था। मजदूरों की भाषा देहाती हिन्दी और सरदारों की भाषा पंजाबी थी।...यहां बाजार में दो अलग-अलग संस्कृतियों का मिश्रण दिखा। कामगार स्त्रियां धोती कमीज पहनतीं। पुरुष धोती कमीज या पाजामा-कुर्ता पहनते थे। जिस तरह भूस्वामी सरदारों के चेहरे चमकते और हरे भरे थे उसी तरह उनकी स्त्रियों के चेहरों पर चमक होती थी। दुखों-सुखों का फर्क साफ दिखता। मालिक दासों और शोषकों-शोषितों का रिश्ता था। बाजार में भी दो देश, अलग-अलग दिखते थे। एक मालिकों भूस्वामियों का देश, दूसरा मजदूरों-भूमिहीनों बंधुआ गुलामों का देश। भूस्वामी पढ़े लिखे कायदे कानून जानने वाले प्रायः सिख धर्म वाले थे और मजदूर प्रायः अनपढ़ और हिन्दू धर्म के लोग थे। हिन्दू धर्म में हमारी जगह क्या थी, कहां थी? थी भी या नहीं, यह बात अलग है। जमीन जायदाद वालों में ऊंची जात के सिख थे और अल्पभूमि या भूमिहीनों में रविदासी और मजहबी सिख होते थे। ये छोटी जोत वाले होते थे और अपनी किसानी का काम खुद ही करते थे। सिखों में भी जात-पात थी पर हिन्दुओं जैसी छुआ-छूत वहां हमारे साथ नहीं थी। किसी भी प्रकार के काम कंधों से कंधा मिलाकर किया करती थी, बल्कि वे खेतों से हारी थकी झुगियां में आकर खाना बनाती थीं, कपड़े धोती थीं और उनके बच्चे साथ-साथ काम किया करते थे। न उनके लिए कोई अवकाश था न बच्चों के लिए स्कूल और न कोई दवा दारू का इंतजाम। कुल मिलाकर अच्छे भविष्य की कोई तैयारी नहीं। जो था सो वर्तमान।' इस सब के बावजूद ब्राह्मणों जैसी छुआ-छूत, इंसान से जन्म के आधार पर करत जैसी नीचता इन लोगों में नहीं थी। ये हमारे श्रम के जितने शोषक थे मान सम्मान के उतने नहीं, हम सरदारों में उनके चौके तक जा सकते थे और उनके बर्तन धो देने के बाद भी छू सकते हैं।'¹⁵

इस प्रकार यह साफ-साफ समझा जा सकता है कि भारत में सांस्कृतिक विविधता है। संपूर्ण भारतीय संस्कृति में केवल और केवल दो संस्कृति दिखाई पड़ती है। एक दलित संस्कृति जिसमें सभी समुदाय हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई आदि के उपेक्षित समुदायों की संस्कृति है दूसरा गैर दलित संस्कृति जिसमें सभी समुदाय के सवर्ण समुदाय है। इस सब के बावजूद इसमें एक संस्कृतिकरण की प्रक्रिया है जिसके माध्यम से वे एक दूसरे के निकट आने का प्रयास करते हैं। लेकिन उनमें वह भावना नहीं आ पाती है जो एक जाति के कारण है। यह शिक्षा की सांस्कृतिक मान्यता है। जिसका संचालन एवं संप्रेषण ब्राह्मणवादी-वर्चस्वशाली

लोगों के हाथों से होता है। 'शिक्षाशास्त्र' में वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा शिक्षा की सांस्कृतिक मान्यताओं के बारे में लिखते हैं कि "शिक्षा का सांस्कृतिक उद्देश्य में विश्वास रखने वाले व्यक्ति शिक्षा को एक विशेष वर्ग के लिए ही मानते हैं सार्वजनिक रूप में नहीं। सांस्कृतिक शिक्षा में इस बात की कोशिश की जाती है कि शिक्षा में उन विषयों को रखा जाए, जिनके ज्ञान से एक व्यक्ति औरों की अपेक्षा सुसंस्कृत और सभ्य समझा जाए। शिक्षा का सांस्कृतिक उद्देश्य जीवन की पूर्णता पर आधारित नहीं है। इसमें उन परिस्थितियों का अध्ययन नहीं होता, जिनके आधार पर शिक्षा का उद्देश्य निश्चित किया जाता है। यह जनतंत्रवादी दृष्टिकोण के बिल्कुल विपरीत पड़ती है।"¹⁶ अतएव यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि भारत की शिक्षा व्यवस्था ब्राह्मणवादी व्यवस्था व मानसिकता से संचालित है और उसकी स्थापना करती है।

'शिकंजे का दर्द' दलित के साथ-साथ एक स्त्री की भी आत्मकथा है। सुशीला टाकभौरे 'मनोगत' नामक शीर्षक से भूमिका में लिखती हैं कि "दलित होने के साथ स्त्री होने की पीड़ा भी मैंने भोगी है। एक स्त्री की आत्मकथा मनुवाद द्वारा निर्मित पुरुषसत्ता प्रधान समाज में स्त्री शोषण को उजागर करती है। जैसे धरती, वैसे ही स्त्री भी सब सहन करती है फिर भी धीरज रखती है और अपनी धुरी पर घूमती रहती है। लेकिन कब तक? आदर्शों के नाम पर स्त्री-शोषण किया जाता है। अपने घर परिवार के शोषण, अत्याचार की बात बताने वाली स्त्री को समाज अच्छा नहीं कहता। अपने अधिकारों की बात करने वाली स्त्रियों के बारे में भी समाज अच्छा नहीं मानता। समाज की यह मान्यता रही है- 'स्त्री देवी है या कुलच्छनी।' उसे जीवित इन्सान कभी माना ही नहीं गया। जैसे वह हाड़, मांस की मानव नहीं, आदर्शों की पुतली है जो आदर्शों के लिए जीती है और आदर्शों के लिए मर जाती है। वह समाज से अपने सुख-दुख का हिसाब कैसे मांगेगी भला?"¹⁷ इतना ही नहीं सुशीला टाक भौरे एक मानवीय मूल्य के रूप में स्त्री जीवन मूल्यों की वकालत करती हैं और दलित-स्त्री उत्पीड़न से मुक्ति की बात करती हैं। वे स्पष्ट कहती हैं कि दलित उत्पीड़न से मुक्ति की लड़ाई खुली लड़ाई है जो सबको दिखाई दे रही है। इसी तरह नारी मुक्ति की भी लड़ाई हो जिसे सब देखें, जाने और समझें। समाज में नारी के प्रति 'अबला' की मानसिकता को बदलकर नारी को सबल रूप में स्थापित करना नारी मुक्ति का उद्देश्य है। नारी शोषण की स्थितियों को बदलकर उसे सभी अधिकारों से सम्पन्न बनाना सामाजिक प्रगति और परिवर्तन कालक्ष्य है। सम्पूर्ण दलित समाज और नारी वर्ग को शोषण-अपमान से मुक्ति का

अधिकार मिलना चाहिए। हेमलता महीश्वर अपने आलेख में 'शिकंजे का दर्द' के बहाने: बिरे की रोटी उर्फ चल मेरी शीला' में भारतीयता और हिंदुत्व की भारतीयता पर बात करती हुई दलित समाज को आगाह करती हैं। वे लिखती हैं कि, "यदि कहीं भारतीय होने का अर्थ किसी भी धर्म विशेष के अनुसार संचालित होना है तो हम दलित रचनाकारों के लिए यह 'अलार्मिंग' है और हमें पूरी ताकत के साथ संवैधानिक तंत्र को लागू करने हेतु प्रत्येक स्तर पर गंभीरता के साथ कार्य करना होगा।"¹⁸

आर्थिक विषमता व असमानता, जल-जंगल और जमीन की समस्याएं, संसाधन विहीनता और उसकी असमान वितरण की प्रणाली का उल्लेख दलित आत्मकथाओं में दिखाई पड़ता है। दलित समाज एक श्रमशील समाज रहा है लेकिन श्रम सौन्दर्य और मूल्यों से हमेशा ही वंचित रहा है। इसलिए जब दलित साहित्य में श्रम मूल्यों की बात की जाती है तो एक तरफ सौन्दर्य के मूल्यों को स्थापित किया जाता है वहीं दूसरी तरफ अपने समाज की संसाधन विहीनता, आर्थिक-विषमता व असमानता, उसकी असमान वितरण प्रणाली की बातों को रेखांकित किया जाता है। दलित समाज की आर्थिक स्थिति का पता इस बात से ही लग जाता है कि दलित समाज के पास न ही अपना घर है और न ही अपनी जमीन। आर्थिक विषमता दलित आत्मकथाओं में सहज ही देखी जा सकती है। 'तिरस्कृत' में सूरजपाल चौहान लिखते हैं कि "हमारे पास गांव में जमीन-जायदाद के नाम पर कुछ न था। घूरे से सटी कच्ची मड़ैया ही हमारी एकमात्र निधि थी, जिसे हम अपना घर कहते थे।

गांव में बिरादरी के सभी लोगों का यही हाल था।"¹⁹ 'गांव में बिरादरी के सभी लोगों का यही हाल था' भारतीय ग्रामीण समाज की संरचना में व्याप्त असमानता और द्वेष को ही उजागर करता है। वर्ण-जाति सत्ता ही भारतीय ग्रामीण समाज की असमानता, विद्वेष गैर बराबरी का जनक है। जिसमें श्रम का विभाजन नहीं श्रमिकों का विभाजन की व्यवस्था है अर्थात् मानव-मानव के बीच विभाजन की व्यवस्था है। जिसमें एक मालिक दूसरा दास, एक सवर्ण दूसरा अवर्ण आदि की अवधारणाएं हैं। इसी संदर्भ को और स्पष्ट करते हुए श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं कि "अपनी और अपने लोगों की युगों-युगों से चली आ रही सामाजिक गुलामी का अहसास मुझे आज और अधिक शिद्दत के साथ महसूस होता है। मैंने आज तक किसी भट्टे पर किसी ब्राह्मण, बनिये को ईंटों को पाथते नहीं देखा। गांव

शहरों की सफाई का काम वे भंगी समाज से अपने हाथों में लें, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। कोई भंगी चमार किसी मठ मंदिर का पुजारी नहीं देखा। अछूतों को मुक्त कर सम्मानित पेशों में आने के वे कितने खिलाफ हैं हमारे प्रति उनकी भाषा और व्यवहार देखने पर सहज ही मालूम हो जाता है।"²⁰

जब इसका समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया जाएगा तो यह बात स्वतः सामने आ जाएगी कि भारतीय समाज की मानसिकता और व्यवस्था की संरचना की मानसिकता क्या है? इसलिए डॉ. अम्बेडकर ने गांव को जातिवाद का कारखाना कहा है। गांव की संरचना या उसकी भौगोलिक बनावट ही जाति आधारित है। उसी के अनुरूप गांव की संस्कृति बहुत ही सहजता से संपन्न होती रहती है। निम्न जाति के लोग जहां अपना संवाद करते रहते हैं वहां यदि ऊंची जाति के लोग पहुंच जाए तो बड़ी ही सहजता से वह जगह ऊंची जाति के लोगों को दे दिया जाता है। श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं कि "यह जगह टीले जैसी जैसी ऊंची थी जिस पर भंगी और चमार साथ-साथ रहते थे। हम चमार जानें क्यों खुद को ऊंचा और भंगियों को नीचा समझते थे। एक नीम के नीचे बैठकर भी भेद दर्शाने के लिए चमार मिट्टी के ऊंचे टीले पर और भंगी निचली जगह पर बैठकर लंबे-लंबे किस्से कहानियां सुनाया करते थे। बीच में कोई यादव या मुसलमान आ जाता तो भंगी चमार दोनों अपनी खांटे या ऊंचा टीला छोड़ नीचे जमीन पर बैठ जाते थे। यह सब सहज था। बराबरी के लिए किसी का कोई संघर्ष तनाव या द्वंद्व नहीं था। आर्य समाजी होने से पहले मैं भी इस भ्रम में था कि मैं भंगियों से कुछ ऊंचा हूं, जबकि हमारे घर की आर्थिक स्थिति भंगियों की स्थिति से ज्यादा खराब थी।"²¹

यहां मुख्य बातें जो ध्यान देने योग्य हैं वह यह कि 'यह सब सहज था' अर्थात् गांव की मानसिकता जाति व्यवस्था को सहज स्वीकार करती है। दूसरी बात बराबरी के लिए किसी का कोई संघर्ष तनाव या द्वंद्व नहीं था। इससे यह सफ़ होता है कि जाति व्यवस्था बराबरी के लिए संघर्ष की चेतना पैदा नहीं होने देती है। तीसरी बात आर्य समाजी की मानसिकता जो कि गैर बराबरी को बरकरार रखती है। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि भारतीय समाज में आर्थिक व्यवस्था सामाजिक सम्मान का आधार नहीं रहा है। पता नहीं वह नीम हमारी कितनी पीढ़ियों की विरासत था। यह नीम का पेड़ समाज में व्याप्त विभाजन को ही नहीं उजागर करता है बल्कि सामाजिक अंतर्विरोधों को भी दिखाता है। "कई मामलों में तो इन शूद्रों का अछूतों के प्रति व्यवहार ठाकुर, जाटों और जाटवों से भी अधिक सामंती था।"²²

शूद्रों अर्थात् पिछड़े वर्गों (बहुजन समाज) में यह जो अछूतपन की भावना आई उसका कारण सामाजिक नीतियों और वर्चस्व का संस्कृतिकरण है। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में वे अपने को श्रेष्ठ समझने लगे और सामने वालों को निम्न जिसका नकारात्मक प्रभाव तो दूसरों पर पड़ा ही स्वयं को भी इससे अछूता नहीं रख पाया। इस अंतर्विरोध को समतापरक आंदोलन की प्रक्रिया के तहत खत्म करना होगा, यह नई सामाजिक संरचना के लिए बहुत ही घातक है। यदि शूद्र समाज जिसे आज ओ.बी.सी. कहा जाता है, समय रहते हुए अपनी इस मानसिकता में बदलाव नहीं करता है और दलित आंदोलन, 'जिसका नेतृत्व दलित समाज को करना है' इस मानसिकता को समाप्त करते हुए आंदोलन को व्यापक फलक प्रदान नहीं करता है तो सामाजिक अंतर्विरोध के बीच आंदोलन का स्वरूप प्रभावित होगा और नई संरचना के निर्माण की प्रक्रिया लंबी हो जाएगी। क्योंकि इस अंतर्विरोध की स्थिति का बना रहना शासन व्यवस्था का अपने दायित्व से मुक्त रहना है। दूसरे शब्दों में राज्य ने सामाजिक दायित्व और सामाजिक विकास से अपने को मुक्त रखा। शासन सत्ता एवं सामाजिक दायित्व से मुक्त रहने का प्रमुख कारण यह है कि वह दलित समाज को अंधकार में रखकर अपनी सत्ता बनाए रखना मुख्य मकसद समझता रहा है, क्योंकि यदि दलित समाज शिक्षा प्राप्त कर लेता है तो वह उनका वोट बैंक बनने से इंकार कर देता। इस स्थिति में वह चेतनशील होकर समाज में बराबरी का समान हकदार बन जाता। जो वर्चस्वशाली समाज को पसंद नहीं है। श्यामराज सिंह 'बेचैन' के शब्दों में, "पिछली ज्ञात पीढ़ियों में कभी किसी को अक्षर ज्ञान प्राप्त करने का भी कोई जीवन मौका नहीं मिला था। वे सब तरह से सामाजिक गुलाम पीढ़ियां थीं। उन्हें पता नहीं देश में कब कौन सुधारक आये कि किसने न्याय किया, कौन तरक्की पसंद रहा। किसी के किसी भी कार्यक्रम ने मेरे पूर्वजों की दुर्दशा को देखा नहीं। वेदना को महसूस नहीं किया, कराहों को सुना नहीं देशी विदेशी अपने पराए हिन्दू मुसलमान सब उनसे काम लेते गये और विपन्नता बेबसी देते गये।"²³ यहां स्पष्ट हो जाता है कि वर्णसत्तावादियों की ब्राह्मणवादी नीति के कारण ही भारतीय समाज में सामाजिक विपन्नता आई है।

सामाजिक विपन्नता के कारणों का संबंध जीवन में अभाव या वंचना के शिकार से लिया जाता है। "भारतीय समाज में सामाजिक विपन्नता को निर्धारित करने वाले कारक हैं: बौद्धिक क्रियाशीलता में क्रमिक ह्रास, शैक्षणिक उपलब्धि में ह्रास तथा स्कूल में नाम लिखाने के तुरंत बाद पढ़ाई छोड़ देने की

प्रवृत्ति। घर का भौतिक पर्यावरण, आर्थिक स्थिति, भोजन, शैक्षणिक अनुभव, लालन पालन के ढंग, प्रेरणात्मक एवं संवेगात्मक अनुभूतियां, धार्मिक अनुभूतियां आदि।"²⁴ सामाजिक विपन्नता के समाजशास्त्रीय अध्ययन दलित आत्मकथाएं प्रस्तुत करती हैं और इस बात को बहुत ही शिद्दत के साथ रखती हैं कि भारतीय समाज में सामाजिक विपन्नता एवं आर्थिक विषमता वर्णसत्तावादी व्यवस्था के गिरत में मौजूद सांस्कृतिक और आर्थिक संसाधन है। इसके कारणों की पड़ताल करते हुए आनंद तेलतुंबड़े ने लिखा है कि "भारतीय समाज में आर्थिक संसाधन का वितरण भी जातिगत है। भारतीय सामंतवाद में उत्पादन के संबंध, इस तरह आवश्यक रूप से जातिगत आधार से जुड़े हुए थे। द्विजों ने ऐसा वातावरण बना रखा था कि बौद्धिक श्रम का सारा काम वे ही करेंगे जैसे शासन करना, सेनाओं पर नियंत्रण, विज्ञान, चमत्कार और रीति-रिवाजों पर अपना एकाधिकार बनाए रखना जबकि छोटी जाति के लोग शारीरिक श्रम और दासोचित काम करने तक ही बंधो होते थे।"²⁵ आनंद तेलतुंबड़े के अनुसार भारतीय समाज में विकास को आधार और अधिसंचरना के आधार पर नहीं देखा जा सकता है क्योंकि

"आधार और अधिसंचरना दोनों में जातियां एक हिस्सा हैं तो यह भी उचित नहीं।"²⁶ वे आगे लिखते हैं कि "सबसे आसान और सही दृष्टिकोण होगा कि जातियों की वास्तविकता को वर्ग-विश्लेषण के साथ अंतर्भूत किया जाए और एक समेकित वर्ग-संघर्ष को बढ़ाया जाए जिसमें जाति-व्यवस्था के विरुद्ध सभी विश्वसनीय प्रामाणिक संघर्षों को शामिल किया जाए। इस दृष्टिकोण को लेकर चलने से जातियों को और भी सही तरीके से समझने की जरूरत में मदद मिलेगी। और साम्राज्यवाद विरोधी खेमे को जल्दी से जल्दी समझ लेना चाहिए।"²⁷

जाति-समस्या की जड़ कहाँ है? इसके मूल में जाये बगैर इसे समाप्त नहीं किया जा सकता। डा० अम्बेडकर ने 'जाति-प्रथा उन्मूलन' के अंतर्गत शास्त्र अनुमोदित धर्म को ही जाति-प्रथा का दोषी ठहराया है। इस संदर्भ में वे तार्किक ढंग से सुस्पष्ट करते हैं, "मेरी राय में उनका धर्म दोषी है, जिसके कारण जाति-व्यवस्था की धारणा का जन्म हुआ है। यदि यह बात सही है तो यह स्पष्ट है कि वह शत्रु जिसके साथ आपको संघर्ष करना है, वे लोग नहीं हैं जो जाति-पांति मानते हैं, बल्कि वे शास्त्र हैं, जिन्होंने जाति-धर्म की शिक्षा दी है। रोटी-बेटी का संबंध न करने या समय-समय पर अंतर्जातीय खान-पान और अंतर्जातीय विवाहों का आयोजन न करने के लिये लोगों की

आलोचना या उनका उपहास करना वांछित उद्देश्य को प्राप्त करने का एक निरर्थक तरीका है। वास्तविक उपचार यह है की शास्त्र से लोगों के विश्वास को समाप्त किया जाए। यदि शास्त्रों ने लोगों के धर्म, विश्वास और विचारों को ढालना जारी रखा तो आप कैसे सफल होंगे?’²⁸

समग्रतः कहा जा सकता है कि भारतीय समाज की संरचना ही वर्ण-जाति आधारित नहीं है बल्कि विकास की सभी धाराएं भी वर्ण-जाति आधारित हैं और उसी से नियंत्रित होती हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी तरह का निर्माण रेत की ढेर पर निर्माण जैसा होगा जिसे बाबा साहेब हमेशा से कहते और लिखते आ रहे थे कि इस देश में जाति की नींव पर कभी भी एक समृद्ध और समतामूलक राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा सकता। क्योंकि जाति कभी भी दो समुदाय के बीच मैत्री और करुणा का भाव पैदा नहीं होने देती है। इसलिए जाति का प्रश्न सिर्फ किसी एक समुदाय मात्र की समस्याओं का सवाल नहीं है बल्कि राष्ट्र की समस्याओं का सवाल है। इसलिए यदि एक समृद्ध समाज और विकसित राष्ट्र का निर्माण करना है तो जितना जल्दी हो सके जाति और जाति को पुख्ता करने वाले सभी तंत्र धर्म और धर्मशास्त्र आदि पर विचार करके उसे खत्म करने की पुरजोर पहल करनी चाहिए। इस संदर्भ में सबसे बेहतर विकल्प यह है कि सभी राजनीतिक दलों के एजेंडे में यह शामिल हो। इस संदर्भ में अजमेर सिंह काजल ने ‘दलित आत्मकथाएं वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण’ में ठीक ही कहा है, “हिंदू समाज और धर्म द्वारा दलित समाज को हजारों वर्षों से असंख्य दंड दिए गए हैं जो इनके सांस्कृतिक पिछड़ेपन और जाति संबंधी मनोरोग का परिणाम हैं। इनकी समाप्ति तभी संभव है जब सत्ताएं वोट बैंक से नजरें हटाकर देश के सभी लोगों के बारे में सोचें।”²⁹

इस तरह के संकल्पित प्रयास से ही जाति की समस्या के अंत की ओर हम बढ़ सकते हैं। जाति की व्यावहारिक समस्या को दलित आत्मकथाएं प्रामाणिक तौर पर प्रस्तुत कर रही हैं। स्वानुभूतियों से उपजे जाति के प्रश्न बृहत्तर स्तर पर बदलाव की मांग करते हैं। दलित साहित्य आंदोलन अब बहुजन स्वरूप ग्रहण कर रहा है। धीरे-धीरे दलित शब्द शबहुजनश में अर्थान्तरित होकर सामाजिक परिवर्तन को गति प्रदान करने की ओर उन्मुख है।

संदर्भ :

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 14
2. वही, पृ. 77

3. वही, पृ. 54
4. वही, पृ. 121
5. वही, पृ. 114
6. कौसल्या बैसंती, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 98
7. डॉ. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 105
8. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 160
9. वही, पृ. 160
10. कौसल्या बैसंती, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 116
11. आनंद तेलतुमडे, साम्राज्यवाद का विरोध और जातियों का उन्मूलन, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2010, पृ. 32
12. बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाड.मय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, दिल्ली, 1993 पृ. 89
13. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 53
14. वही, पृ. 53-54
15. श्यौराज सिंह बेचैन, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 140
16. डॉ. वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा, शिक्षाशास्त्र, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1975, पृ. 13
17. सुशीला टाकभौर, मनोगत (भूमिका), शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
18. हेमलता महीश्वर, ‘शिकंजे का दर्द’ के बहाने उद्धृत....., राम चंद्र, प्रवीण कुमार, दलित आत्मकथाएं: स्वानुभूति एवं सर्जना का परिप्रेक्ष्य, खण्ड-दो, एकेडमिक पब्लिकेशन, दिल्ली, 2017 पृ. 24
19. सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत, अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद, 2005, पृ. 13
20. श्यौराज सिंह बेचैन, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 68
21. वही, पृ. 84
22. वही, पृ. 402
23. ग्रंथ अकादमी, पटना, 1991, पृ. 530
25. आनंद तेलतुमडे, पृ. 42
26. वही, पृ. 48
27. वही, पृ. 49
28. बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाड.मय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, दिल्ली, 1993 पृ. 91
29. अजमेर सिंह काजल, ‘दलित आत्मकथाएं वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण, (भूमिका से), अनामिका प्रकाशन दिल्ली, 2017, पृ. 11

